ISSN: 3108-2726 (Online), 3108-2890 (Print), Volume-1, Issue-3, (May – Jun) 2025

मैथिलीशरण गुप्त के काव्य में राष्ट्रवाद और सांस्कृतिक पुनर्जागरण

शालिनी यादव
पूर्व शोधार्थी हिन्दी विभाग, वी. एस. एस. डी. कॉलेज कानपुर

सारांश

मैथिलीशरण गुप्त का काव्य आधुनिक हिंदी की राष्ट्रीय चेतना के निर्माण में एक निर्णायक हस्तक्षेप है। उनके यहाँ राष्ट्र केवल राजनीतिक स्वतंत्रता की आकांक्षा नहीं, बल्कि आत्मालोचन, सामाजिक उत्तरदायित्व, नैतिक अनुशासन और सांस्कृतिक स्मृति से निर्मित एक जीवित समुदाय है। प्रस्तुत आलेख का केंद्रीय प्रतिपाद्य यह है कि गुप्त का राष्ट्रवाद अतीत के गौरवगान तक सीमित नहीं रहता; वह वर्तमान की जड़ता पर प्रश्न उठाते हुए परम्परा को लोकमंगल की आधुनिक कसौटी पर पुनर्परिभाषित करता है। 'भारत-भारती' और 'स्वदेश-संगीत' में यह चेतना प्रत्यक्ष राष्ट्रीय संबोधन के रूप में आती है, जबकि 'जयद्रथ-वध', 'साकेत', 'पंचवटी' और 'यशोधरा' में मिथकीय आख्यान, प्रकृति, पारिवारिक संबंध और स्त्री-अनुभव उसके सांस्कृतिक आयामों को विस्तृत करते हैं। आलेख यह भी रेखांकित करता है कि खड़ी बोली की संप्रेषणीयता, नैतिक प्रश्नों की सार्वजनिक प्रस्तुति और उपेक्षित पात्रों को वाणी देना गुप्त के सांस्कृतिक पुनर्जागरण की प्रमुख उपलब्धियाँ हैं। साथ ही अतीत के आदर्शीकरण, उपदेशात्मकता और स्त्री-स्वायत्तता को त्याग-मर्यादा की सीमा में देखने जैसी अंतर्विरोधी प्रवृत्तियों की आलोचनात्मक पड़ताल की गई है। इस प्रकार गुप्त का काव्य राष्ट्र को प्रभुत्व के बजाय न्याय, सह-अस्तित्व और आत्मसंस्कार की प्रक्रिया के रूप में समझने की प्रेरणा देता है।

बीज शब्द- मैथिलीशरण गुप्त, राष्ट्रवाद, सांस्कृतिक पुनर्जागरण, भारत-भारती, राष्ट्रीय चेतना, खड़ी बोली।

राष्ट्रीय जागरण की युगभूमि और गुप्त की काव्य-दृष्टि

बीसवीं शताब्दी के आरम्भिक दशकों में भारतीय समाज राजनीतिक पराधीनता के साथ-साथ सांस्कृतिक हीनता, आर्थिक विषमता और सामाजिक विखंडन का अनुभव कर रहा था। औपनिवेशिक सत्ता केवल शासन-व्यवस्था नहीं थी; उसने भारतीयों की अपने इतिहास, भाषा और सामूहिक क्षमता के विषय में बनी समझ को भी प्रभावित किया था। ऐसे समय में साहित्य से मनोरंजन भर की अपेक्षा नहीं की जाती थी। वह सार्वजनिक संवाद, आत्मसम्मान और सुधार की आकांक्षा का माध्यम बन रहा था। मैथिलीशरण गुप्त इसी संक्रमणकाल के कवि हैं। उनकी कविता में राष्ट्र की पुकार इसलिए इतनी साफ सुनाई देती है कि वह अखबारों और राजनीतिक सभाओं से उठते प्रश्नों को घर, परिवार, धर्म, इतिहास और दैनिक आचरण की भाषा में बदल देती है।

गुप्त का महत्त्व केवल इस बात में नहीं है कि उन्होंने देशभक्ति की कविताएँ लिखीं। उनसे पहले भी स्वदेश-प्रेम की धारा मौजूद थी। उनकी विशिष्टता यह है कि उन्होंने राष्ट्र को एक नैतिक समुदाय के रूप में देखा। इस समुदाय का निर्माण किसी एक वीर नायक या चमत्कारिक घटना से नहीं, बल्कि नागरिकों की जागरूकता, श्रम, संयम, पारस्परिकता और अपनी कमजोरियों को पहचानने से होना था। इसीलिए उनके काव्य में प्रेरणा और आत्मभर्त्सना साथ-साथ चलती हैं। वे पाठक को गौरव की स्मृति देते हैं, लेकिन उस स्मृति में सुलाकर नहीं छोड़ते; वर्तमान की निष्क्रियता के सामने खड़ा कर देते हैं। यही द्वंद्व उनके राष्ट्रवाद को सामान्य उत्सवधर्मिता से अलग करता है।

'भारत-भारती' की रचना-योजना—अतीत, वर्तमान और भविष्य—इस दृष्टि का सबसे स्पष्ट उदाहरण है। यहाँ इतिहास कोई निष्पक्ष कालक्रम नहीं, आत्मपरीक्षण का दर्पण है। अतीत से मनोबल लिया जाता है, वर्तमान की दुर्दशा का कारण खोजा जाता है और भविष्य को कर्म की संभावना के रूप में रखा जाता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी 'भारत-भारती' की लोकप्रियता को उसकी सीधी भाषा, मार्मिक तथ्यों और स्वदेश-ममता से जोड़ा था; साथ ही उन्होंने यह संकेत भी किया कि आरम्भिक रचनाओं में विशिष्ट काव्य-पदावली और कलात्मक गठन अपेक्षाकृत सीमित था।[1]

शुक्ल की यह टिप्पणी गुप्त को समझने का उपयोगी द्वार खोलती है। उनकी कविता का प्रभाव हमेशा सूक्ष्म बिंबों अथवा जटिल प्रतीकों पर निर्भर नहीं रहता। कई बार वह सीधे संबोधन, प्रश्न, तर्क और स्मरण की शक्ति से बनता है। यही सीधापन उनकी सीमा भी बन सकता है, पर उसी ने कविता को नवशिक्षित मध्यवर्ग, विद्यार्थियों और सामान्य पाठकों तक पहुँचाया। खड़ी बोली को उन्होंने ऐसी सार्वजनिक वाणी दी जिसमें इतिहास पर विचार भी संभव था और घर के दुःख का कथन भी। भाषा का यह लोकतंत्रीकरण अपने आप में सांस्कृतिक पुनर्जागरण का काम था, क्योंकि इससे साहित्य की सहभागिता का दायरा बढ़ा।

गुप्त के लिए 'संस्कृति' स्थिर रीति-रिवाजों का संग्रह नहीं है। उसमें स्मृति, नैतिकता, व्यवहार, करुणा, परिवार, प्रकृति और सामूहिक उत्तरदायित्व सभी आते हैं। वे भारतीय परम्परा से कथाएँ और चरित्र लेते हैं, किंतु उनका लक्ष्य उनकी पूजा कराना भर नहीं होता। वे देखते हैं कि उन कथाओं में आधुनिक मनुष्य के लिए कौन-से प्रश्न अभी जीवित हैं—सत्ता और न्याय का संबंध क्या हो, त्याग किसका और किसके लिए हो, स्त्री की पीड़ा को परिवार की मर्यादा में कैसे सुना जाए, तथा धर्म मनुष्य को बाँटता है या व्यापक मनुष्यता की ओर ले जाता है। इस अर्थ में उनका पुनर्जागरण 'वापसी' नहीं, परम्परा के भीतर से वर्तमान की आलोचना है।

उनकी राष्ट्र-चेतना में गांधी युग के नैतिक आग्रहों से साम्य दिखाई देता है, पर उसे किसी एक राजनीतिक कार्यक्रम में समेटना ठीक नहीं होगा। गुप्त के यहाँ स्वदेशी संवेदना, सामाजिक सुधार, धार्मिक सहिष्णुता, नारी के प्रति सहानुभूति और श्रमशील जीवन की प्रतिष्ठा मिलकर राष्ट्रीयता का अर्थ बनाते हैं। वे क्रोध की ऊर्जा को स्वीकार करते हैं, किन्तु उसे न्याय और आत्मसंयम के अधीन रखना चाहते हैं। इसी कारण उनका आदर्श राष्ट्र शत्रु की घृणा से नहीं, अपने भीतर की उदासीनता, अन्याय और पराधीन मानसिकता से संघर्ष करते हुए बनता है। लेख का मूल तर्क यहीं है: गुप्त का राष्ट्रवाद सांस्कृतिक पुनर्निर्माण के बिना अधूरा है, और उनका सांस्कृतिक पुनर्जागरण नैतिक-सामाजिक परिवर्तन के बिना अर्थहीन।

इतिहास-बोध, स्वदेश और लोकमंगल का राष्ट्रीय स्वर

'भारत-भारती' में गुप्त अतीत और वर्तमान के बीच ऐसा तनाव रचते हैं जिसमें पाठक निष्क्रिय दर्शक नहीं रह सकता। कविता का 'हम' बहुत महत्त्वपूर्ण है। वह दोष का भार केवल विदेशी शासन पर नहीं डालता; सामूहिक आत्मविस्मृति और योग्यता के क्षय को भी सामने लाता है। इसीलिए प्रसिद्ध पंक्तियाँ विजय-स्मृति से आरम्भ होकर आत्मालोचन में बदल जाती हैं:

हम कौन थे, क्या हो गये हैं, जान लो इसका पता,
जो थे कभी गुरु, है न उनमें शिष्य की भी योग्यता!
जो थे सभी से अग्रगामी, आज पीछे भी नहीं,
है दीखती संसार में विपरीतता ऐसी कहीं?[2]

इन पंक्तियों का प्रभाव केवल 'स्वर्णिम अतीत' की छवि में नहीं है। पहली पंक्ति में आया प्रश्न पाठक को अपने इतिहास का हिसाब माँगने वाला नागरिक बनाता है। 'गुरु' और 'शिष्य' की तुलना गर्व को तुरंत असुविधा में बदल देती है; विरासत अपने आप योग्यता नहीं बनती। उसे कर्म, ज्ञान और सामाजिक अनुशासन से अर्जित करना पड़ता है। गुप्त की राष्ट्रीय चेतना का यही आत्मालोचनात्मक पक्ष आज भी मूल्यवान है। वह राष्ट्र-प्रेम को आत्मप्रशंसा का पर्याय नहीं बनने देता। इतिहास का सम्मान तभी सार्थक है जब वह वर्तमान की विफलताओं को ढकने के बजाय उन्हें पहचानने की दृष्टि दे।

'भारत-भारती' के वर्तमान-खंड में सामाजिक कुरीतियाँ, आपसी फूट, शिक्षा का अभाव, आर्थिक दुर्बलता और सार्वजनिक उदासीनता बार-बार प्रश्न के रूप में आते हैं। आर. पी. वर्मा ने इस कृति के राष्ट्रवाद का विवेचन करते हुए ठीक ही ध्यान दिलाया है कि यहाँ राजनीतिक पराधीनता का कथन सामाजिक और आर्थिक अवनति की चिंता से जुड़ा हुआ है। इससे कविता का राष्ट्रीय स्वर अधिक व्यापक बनता है। यदि समाज के भीतर असमानता और जड़ता बनी रहे,

तो केवल शासन-परिवर्तन मुक्ति नहीं दे सकता। गुप्त पाठक को 'देश' के अमूर्त प्रेम से आगे ले जाकर समाज की दशा के प्रति जिम्मेदार बनाना चाहते हैं।[3]

इस काव्य में इतिहास का उपयोग कभी-कभी आदर्शीकरण तक पहुँचता है, फिर भी उसकी रचनात्मक भूमिका को नकारा नहीं जा सकता। औपनिवेशिक विमर्श ने जिस समाज को पिछड़ा और अयोग्य बताकर शासित किया, उसके सामने उपलब्धियों की स्मृति मनोवैज्ञानिक प्रतिरोध का साधन बनी। गुप्त ने ज्ञान, दर्शन, त्याग और सामुदायिक जीवन की भारतीय परम्पराओं का स्मरण कराकर हीनता-बोध को चुनौती दी। किंतु उनके श्रेष्ठ स्थलों पर यह स्मृति बंद दरवाजा नहीं बनती; वह भविष्य की ओर खुलती है। वे पाठक से यह नहीं कहते कि अतीत लौट आएगा, बल्कि यह पूछते हैं कि उसके नैतिक साहस को वर्तमान कर्म में कैसे बदला जाए।

'स्वदेश-संगीत' में भारत का सांस्कृतिक भूगोल एक जीवंत स्मृति की तरह उभरता है। तपोवन, मुक्ति, संघर्ष और क्रीड़ा-क्षेत्र जैसे शब्द भूमि को केवल नक्शे की सीमा नहीं रहने देते। वे उसे अनुभव, साधना और सामूहिक कथा से जोड़ते हैं:

शान्ति-पूर्ण शुचि तपोवनों में हुए तत्त्व प्रत्यक्ष यहाँ,
लक्ष बन्धनों में भी अपना रहा मुक्ति ही लक्ष्य यहाँ।
जीवन और मरण का जग ने देखा यहाँ सफल संघर्ष;
हरि का क्रीड़ा-क्षेत्र हमारा भूमि-भाग्य-सा भारतवर्ष॥[4]

यहाँ 'मुक्ति' केवल आध्यात्मिक शब्द नहीं रह जाती। 'लक्ष बन्धनों' के बीच उसका लक्ष्य बने रहना राजनीतिक पराधीनता के युग में स्वाभाविक रूप से नया अर्थ ग्रहण करता है। गुप्त पुरानी सांस्कृतिक शब्दावली को समकालीन स्वतंत्रता-कामना से जोड़ते हैं। फिर भी इस अंश का सबसे ध्यान देने योग्य पक्ष 'जीवन और मरण' का संघर्ष है। राष्ट्र उनके यहाँ सुखद स्मृतियों का संग्रहालय नहीं, संकटों से गुजरकर मूल्य रचने वाला समुदाय है। पवित्रता का भाव भूमि पर अधिकार जताने के लिए नहीं, उसके प्रति दायित्व जगाने के लिए प्रयुक्त होता है। यही अंतर सांस्कृतिक गर्व को आक्रामक वर्चस्व से अलग रखता है।

गुप्त की राष्ट्रीय कविता में 'जन' प्रायः संबोधित समुदाय के रूप में उपस्थित है। कवि समझाता है, ललकारता है, कभी धिक्कारता और कभी आश्वस्त करता है। इस संबोधन में वक्तृता अवश्य है, पर वह पूरी तरह बाहरी अलंकरण नहीं। औपनिवेशिक समय में बिखरे पाठकों को 'हम' के अनुभव में जोड़ना स्वयं एक काव्यात्मक और राजनीतिक कर्म था। पार्वती ने गुप्त की राष्ट्रीय चेतना पर विचार करते हुए उसके सामाजिक सरोकार—एकता, श्रम, सुधार और व्यापक जन-जागरण—को रेखांकित किया है। इस परिप्रेक्ष्य से देखें तो गुप्त के काव्य का उपदेशात्मक स्वर एक ऐतिहासिक आवश्यकता से भी पैदा हुआ: कविता को पाठक के निजी भाव और सार्वजनिक कर्तव्य के बीच पुल बनना था।[5]

राष्ट्रीयता का एक दूसरा रूप 'जयद्रथ-वध' में मिलता है। महाभारत की कथा के भीतर गुप्त अधिकार, न्याय और दण्ड के प्रश्न को इस प्रकार रखते हैं कि मिथक समकालीन राजनीतिक नैतिकता का माध्यम बन जाता है:

अधिकार खोकर बैठ रहना, यह महा दुष्कर्म है;
न्यायार्थ अपने बन्धु को भी दण्ड देना धर्म है।
इस तत्त्व पर ही कौरवों से पाण्डवों का रण हुआ,
जो भव्य भारतवर्ष के कल्पान्त का कारण हुआ॥[6]

पहली पंक्ति पराधीनता के प्रति निष्क्रिय स्वीकृति को नैतिक दोष घोषित करती है; अधिकार माँगना यहाँ स्वार्थ नहीं, धर्म है। पर अगली पंक्ति इस संघर्ष को अंधे पक्षपात से बचाती है—अन्याय करने वाला 'अपना' भी हो तो न्याय की कसौटी बदलनी नहीं चाहिए। राष्ट्रवाद की विश्वसनीयता इसी निष्पक्षता पर निर्भर करती है। अंतिम दो पंक्तियाँ युद्ध का महिमामंडन नहीं करतीं; वे 'कल्पान्त' का स्मरण कराती हैं। न्याय के लिए प्रतिरोध आवश्यक हो सकता है, पर भ्रातृ-

संघर्ष सभ्यता को विनाश तक ले जाता है। इस द्वंद्व में गुप्त का राजनीतिक विवेक दिखाई देता है: अधिकार की रक्षा और संघर्ष की मानवीय कीमत दोनों एक साथ देखी गई हैं।

इस प्रकार गुप्त का इतिहास-बोध दो दिशाओं में काम करता है। एक ओर वह गुलाम समाज को आत्मविश्वास देता है; दूसरी ओर उसी समाज को अपनी दुर्बलताओं से परिचित कराता है। समस्या तब पैदा होती है जब गौरव की छवियाँ ऐतिहासिक विविधता को समेट नहीं पातीं और 'भारत' का प्रतिनिधित्व मुख्यतः आर्य-हिंदू सांस्कृतिक प्रतीकों से होने लगता है। फिर भी उनके काव्य का व्यापक नैतिक आग्रह संकीर्ण बहिष्कार से बड़ी जगह बनाता है। न्याय, त्याग, करुणा, श्रम और आत्मसंयम ऐसे मूल्य हैं जिन्हें वे किसी एक सम्प्रदाय की निजी सम्पत्ति नहीं मानते। इसलिए उनकी राष्ट्रीयता को उसके समय के शब्द-संसार में रखकर पढ़ना चाहिए, पर उसके भीतर मौजूद मानवीय विस्तार और प्रतिनिधित्व की सीमाओं दोनों को साथ देखना चाहिए।

सांस्कृतिक पुनर्जागरण: परम्परा का पुनर्पाठ और मानवीय विस्तार

गुप्त के सांस्कृतिक पुनर्जागरण की पूरी पहचान उनकी प्रत्यक्ष राष्ट्रीय कविताओं से नहीं होती। 'साकेत', 'पंचवटी' और 'यशोधरा' जैसे काव्य दिखाते हैं कि उनके लिए संस्कृति का पुनर्निर्माण मनुष्य के संबंधों, संवेदनाओं और निर्णयों में होता है। उन्होंने पौराणिक कथाओं को जस का तस दोहराने के बजाय उनकी दृष्टि बदल दी। प्रख्यात नायकों के आसपास मौन रह गए पात्रों को केंद्र में लाकर उन्होंने परम्परा के भीतर छिपे अनुभवों को आधुनिक पाठक के सामने रखा। यह प्रक्रिया साहित्यिक भी है और सांस्कृतिक भी: कथा वही रहती है, पर उसके नैतिक प्रश्न बदल जाते हैं। पाठक गौरवपूर्ण आख्यान के साथ उस पीड़ा को भी देखता है जिसकी कीमत पर आदर्श खड़ा हुआ था।

'साकेत' का राम अवतारी महिमा के साथ मानवीय लोकमंगल का प्रतिनिधि है। उनका उद्देश्य पारलौकिक मुक्ति का संदेश देकर संसार से विरक्ति पैदा करना नहीं, इसी धरती को अधिक न्यायपूर्ण और सुंदर बनाना है:

सन्देश यहाँ मैं नहीं स्वर्ग का लाया,
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया।[7]

इन दो पंक्तियों में गुप्त की सांस्कृतिक दृष्टि का लौकिक मोड़ स्पष्ट है। 'स्वर्ग' कोई मृत्यु के बाद मिलने वाला प्रतिफल नहीं, मनुष्य के कर्म से बन सकने वाली सामाजिक अवस्था है। धार्मिक आख्यान इस तरह नागरिक नैतिकता में रूपांतरित होता है। राम की प्रतिष्ठा चमत्कार से अधिक उस आदर्श में है जो भूतल के दुःख को कम करना चाहता है। राष्ट्रवाद के संदर्भ में इसका अर्थ है कि महान परम्परा का प्रमाण विशाल स्मारक या अतीत का दावा नहीं, वर्तमान मनुष्य का बेहतर जीवन है। यदि समाज में भूख, अपमान और अन्याय बने रहें, तो सांस्कृतिक गौरव अधूरा है।

'साकेत' की रचना-दृष्टि उर्मिला को कथा के किनारे से उठाकर भावनात्मक केंद्र में रखती है। लक्ष्मण का वनगमन रामकथा में सामान्यतः सेवा और भ्रातृभक्ति का महान प्रसंग माना जाता है; गुप्त उसके पीछे छूट गई स्त्री के दीर्घ अकेलेपन को दृश्य बनाते हैं। इससे त्याग का अर्थ जटिल होता है। राष्ट्र और धर्म के बड़े आदर्शों के लिए किए गए निर्णयों की कीमत कौन चुकाता है—यह प्रश्न पहली बार परिवार की निस्तब्धता से सुनाई देता है। उर्मिला विद्रोही आधुनिक व्यक्तित्व के पूर्ण रूप में नहीं आती, फिर भी उसका दुःख अब अदृश्य नहीं। इस दृश्यता में सांस्कृतिक पुनर्जागरण का मानवीय पक्ष है: महान आख्यान की प्रतिष्ठा बनी रहती है, पर उसकी नैतिक गणना में उपेक्षित जीवन भी शामिल होता है।

'पंचवटी' में पुनर्जागरण का एक अलग, पर्यावरण-संवेदी रूप दिखाई देता है। प्रकृति यहाँ कथा की पृष्ठभूमि मात्र नहीं; वह पात्रों के भाव, निर्वासन और गृह-बोध के साथ जीती है। आरम्भिक दृश्य देखें:

चारु चन्द्र की चंचल किरणें
खेल रही हैं जल-थल में,

स्वच्छ चाँदनी बिछी हुई है
अवनि और अम्बरतल में।
पुलक प्रकट करती है धरती
हरित तृणों की नोकों से...[8]

प्रकृति के इस रूप को राष्ट्रवादी भू-दृश्य से जोड़ते समय सावधानी आवश्यक है। भूमि का सौंदर्य प्रेम जगा सकता है, पर भूमि को पवित्र बताना कभी-कभी मनुष्यों की विविधता और वास्तविक जीवन-संघर्ष को पीछे कर देता है। गुप्त के श्रेष्ठ प्रकृति-चित्र इस खतरे से इसलिए बचते हैं कि उनमें अधिकार की भाषा कम और आत्मीयता अधिक है। 'पंचवटी' की धरती विजय की वस्तु नहीं, सह-अस्तित्व का परिवेश है। राष्ट्र से संबंध भी ऐसा ही होना चाहिए—स्वामित्व का गर्व नहीं, देखभाल का दायित्व। इस दृष्टि से सांस्कृतिक पुनर्जागरण पर्यावरणीय नैतिकता तक फैलता है, भले गुप्त के समय में यह आज की शब्दावली में व्यक्त न हुआ हो।

'यशोधरा' में गुप्त परम्परा को स्त्री-अनुभव की कसौटी पर जाँचते हैं। सिद्धार्थ का गृहत्याग धार्मिक इतिहास में महाभिनिष्क्रमण है, किंतु यशोधरा के लिए वह बिना संवाद किए लिया गया निजी निर्णय भी है। उसकी शिकायत साधना के उद्देश्य से नहीं, साधना की प्रक्रिया में उसके विश्वास और सम्मान की उपेक्षा से है:

सिद्धि-हेतु स्वामी गये, यह गौरव की बात;
पर चोरी-चोरी गये, यही बड़ा व्याघात।[9]

'गौरव' और 'व्याघात' का साथ आना इस काव्य का नैतिक केंद्र है। यशोधरा सिद्धार्थ की सिद्धि को छोटा नहीं करती, फिर भी अपने आघात को दबाती नहीं। वह पूछती है कि महान उद्देश्य क्या निकटतम मनुष्य के प्रति उत्तरदायित्व से मुक्त कर देता है। यहाँ स्त्री केवल प्रतीक्षारत पत्नी नहीं, निर्णय की नैतिकता पर विचार करने वाली चेतना है। उसकी गरिमा इस बात में है कि वह प्रेम और प्रश्न दोनों को बनाए रखती है। गुप्त ने इस द्वंद्व को वाणी देकर भारतीय सांस्कृतिक आदर्शों के भीतर संवाद, सहमति और परस्पर सम्मान की आवश्यकता स्थापित की।

गरिमा यादव ने गुप्त के काव्य में नारी-चित्रण का अध्ययन करते हुए ठीक संकेत किया है कि कवि उपेक्षित स्त्री-पात्रों की गरिमा और नैतिक सामर्थ्य को केंद्र में लाते हैं, किंतु उनका आदर्श प्रायः त्याग, पतिव्रत और पारिवारिक मर्यादा से संचालित रहता है। यह द्वैत 'यशोधरा' और 'साकेत' दोनों में दिखाई देता है। स्त्री को वाणी मिलती है, पर उसके जीवन की संभावनाएँ अभी परिवार और पुरुष के महान प्रयोजन से पूरी तरह स्वतंत्र नहीं। अतः गुप्त को आधुनिक स्त्री-मुक्ति का अंतिम बिंदु मानना उचित नहीं; अधिक सटीक यह होगा कि वे परम्परागत आख्यान के भीतर स्त्री के प्रश्न के लिए एक महत्त्वपूर्ण दरार खोलते हैं।[10]

गुप्त का सांस्कृतिक पुनर्जागरण इसी तरह पुराने आदर्शों को नष्ट किए बिना उनमें मानवीय उत्तरदायित्व जोड़ता है। राम का आदर्श पृथ्वी को स्वर्ग बनाने से सिद्ध होता है; उर्मिला की निस्तब्धता त्याग की कीमत बताती है; यशोधरा साधना के भीतर संवाद की माँग रखती है; पंचवटी का वन मनुष्य और प्रकृति के सहजीवन का अनुभव कराता है। इन कृतियों में राष्ट्र शब्द बार-बार उपस्थित न भी हो, तो राष्ट्रीय संस्कृति की कल्पना बन रही है। वह संस्कृति तभी जीवित है जब वह अपने उपेक्षित अनुभवों को सुन सके, विरासत की आलोचना सह सके और आदर्श को व्यवहार की कसौटी पर परख सके।

अन्तर्विरोध, सीमाएँ और वर्तमान प्रासंगिकता

गुप्त की व्यापक लोकप्रियता का एक कारण उनकी कथन-शैली की स्पष्टता है। वे पाठक को अर्थ के अनिश्चित जंगल में अकेला नहीं छोड़ते; अक्सर बताते हैं कि किसी प्रसंग का नैतिक आशय क्या है। राष्ट्रीय जागरण के दौर में यह गुण प्रभावी था, क्योंकि कविता सभा, पाठशाला और परिवार में सामूहिक रूप से पढ़ी जा सकती थी। किंतु यही स्पष्टता कई

बार उपदेशात्मकता में बदल जाती है। पात्र स्वतंत्र मनोवैज्ञानिक व्यक्तित्व के बजाय किसी मूल्य के उदाहरण लगने लगते हैं, और कविता की बहुअर्थकता कम हो जाती है। गुप्त का मूल्यांकन करते समय उनके संप्रेषण की ऐतिहासिक शक्ति तथा कलात्मक सरलीकरण की सीमा—दोनों को स्वीकार करना चाहिए।

दूसरी सीमा अतीत के चयन से जुड़ी है। गुप्त प्रायः प्राचीन भारत, रामायण-महाभारत और वैष्णव नैतिकता से अपनी सांस्कृतिक सामग्री ग्रहण करते हैं। इस सामग्री में विराट मानवीय संभावनाएँ हैं, किंतु भारत का बहुधार्मिक, बहुभाषी और जातिगत रूप से जटिल इतिहास इससे पूरा प्रतिनिधित्व नहीं पाता। 'आर्य', 'धर्म', 'तपोवन' और पवित्र भूमि की शब्दावली उनके समय के राष्ट्रीय मुहावरे का हिस्सा थी, फिर भी आज का पाठक पूछ सकता है कि दलित, आदिवासी, मुसलमान और अनेक क्षेत्रीय समुदाय इस 'हम' में किस प्रकार दिखाई देते हैं। यह प्रश्न गुप्त को खारिज नहीं करता; वह उनके राष्ट्रवाद की प्रतिनिधिक सीमा को स्पष्ट करता है।

फिर भी उनके काव्य को सांप्रदायिक राष्ट्रवाद के साथ सरलता से रख देना ऐतिहासिक और साहित्यिक भूल होगी। उनका मूल आग्रह मनुष्य के आत्मसंस्कार, न्याय, करुणा और सहकार पर है। वे धर्म को संकीर्ण पहचान की चौकी बनाने के बजाय आचरण की कसौटी मानते हैं। 'जयद्रथ-वध' में अपना बन्धु भी अन्याय करे तो दण्डनीय है; 'साकेत' में धर्म का फल भूतल को बेहतर बनाना है; 'यशोधरा' में सिद्धि का मार्ग निकट संबंध के प्रति उत्तरदायित्व से जाँचा जाता है। इस नैतिक सार्वभौमिकता के कारण उनका काव्य अपने सांस्कृतिक प्रतीकों की सीमा से बाहर संवाद करने की क्षमता रखता है।

स्त्री-पात्रों के संदर्भ में भी उपलब्धि और सीमा एक-दूसरे से अलग नहीं हैं। गुप्त ने उर्मिला और यशोधरा के मौन को सार्वजनिक काव्य-वाणी दी; यह हिंदी की आधुनिक संवेदना में बड़ा परिवर्तन था। उन्होंने पुरुष-नायक के निर्णय को स्त्री की पीड़ा से जाँचने का अवसर बनाया। पर स्त्री की महानता बार-बार सहनशीलता, प्रतीक्षा और त्याग से प्रमाणित होती है। वह प्रश्न करती है, पर कथा के सामाजिक ढाँचे को मूलतः नहीं बदलती। आज गुप्त को पढ़ने का रचनात्मक तरीका यही है कि उनकी दी हुई वाणी को आगे बढ़ाया जाए—स्त्री की गरिमा को केवल त्याग में नहीं, इच्छा, चुनाव, असहमति और स्वतंत्र कर्म में भी पहचाना जाए।

वर्तमान समय में राष्ट्रवाद प्रायः ऊँचे नारों, प्रतीकों और विरोधी की पहचान के बीच सीमित हो जाता है। गुप्त की कविता इस स्थिति में एक असुविधाजनक किंतु आवश्यक प्रश्न रखती है: राष्ट्र से प्रेम का प्रमाण अपने समाज के प्रति कौन-सा उत्तरदायित्व है? 'भारत-भारती' का आत्मालोचन बताता है कि केवल अतीत पर गर्व करना पर्याप्त नहीं। शिक्षा, सामाजिक न्याय, श्रम की प्रतिष्ठा और सार्वजनिक चरित्र के बिना राष्ट्रीय गौरव खोखला है। अपने दोषों को स्वीकारना राष्ट्र-विरोध नहीं, राष्ट्र को बेहतर बनाने की पहली शर्त है। यह विचार लोकतांत्रिक समाज में विशेष महत्त्व रखता है, जहाँ आलोचना और प्रेम को अक्सर एक-दूसरे का विरोधी मान लिया जाता है।

पर्यावरणीय संकट के संदर्भ में 'पंचवटी' और 'स्वदेश-संगीत' की भूमि-संवेदना को नया अर्थ मिलता है। राष्ट्र की धरती को प्रेम करना उसके संसाधनों पर निरंकुश अधिकार नहीं, उसके जल, वन और जीव-जगत की रक्षा करना है। गुप्त ने आधुनिक पारिस्थितिकी की अवधारणा प्रस्तुत नहीं की, फिर भी प्रकृति को पुलकित, क्रीड़ामय और आत्मीय उपस्थिति के रूप में देखने से उपयोगितावादी दृष्टि का प्रतिरोध बनता है। सांस्कृतिक पुनर्जागरण यदि केवल मंदिर, ग्रंथ और स्मारक की रक्षा करे, लेकिन नदियों और जंगलों को नष्ट होने दे, तो वह अपनी ही जीवित भूमि से कट जाएगा। गुप्त की प्रकृति-कविता इस विरोधाभास को समझने की संवेदनात्मक जमीन देती है।

सामाजिक माध्यमों के तेज और विभाजक समय में गुप्त का 'हम' भी पुनर्विचार माँगता है। उनके काव्य का सामूहिक संबोधन पाठकों को साझा भविष्य के लिए बुलाता है, पर आज उस 'हम' को अधिक बहुल और समावेशी बनाना जरूरी है। भाषा, धर्म, जाति, लिंग और क्षेत्र की भिन्नताओं को मिटाकर नहीं, सम्मानपूर्वक साथ रखकर ही आधुनिक राष्ट्र बन सकता है। गुप्त से मिलने वाली उपयोगी विरासत आत्मगौरव से अधिक आत्मसंस्कार, विरोध से अधिक न्याय और स्मृति

से अधिक उत्तरदायित्व है। उनकी सीमाओं की आलोचना इसी विरासत के विरुद्ध नहीं; बल्कि उसे वर्तमान लोकतांत्रिक चेतना के अनुरूप विस्तृत करने का प्रयास है।

निष्कर्ष

मैथिलीशरण गुप्त के काव्य में राष्ट्रवाद और सांस्कृतिक पुनर्जागरण अलग-अलग धाराएँ नहीं, एक-दूसरे को अर्थ देने वाली प्रक्रियाएँ हैं। राष्ट्रीय स्वतंत्रता की आकांक्षा उनके यहाँ आत्मसम्मान जगाती है, पर वह सामाजिक सुधार, नैतिक अनुशासन और लोकमंगल से जुड़े बिना पूरी नहीं होती। इसी प्रकार संस्कृति अतीत की निष्क्रिय विरासत नहीं; वह वर्तमान जीवन में न्याय, करुणा, संवाद और जिम्मेदारी के रूप में प्रमाणित होती है। 'भारत-भारती' का आत्मालोचन, 'स्वदेश-संगीत' का सांस्कृतिक भूगोल और 'जयद्रथ-वध' का अधिकार-बोध राष्ट्रीय चेतना की प्रत्यक्ष अभिव्यक्तियाँ हैं। 'साकेत', 'पंचवटी' और 'यशोधरा' इस चेतना को परिवार, प्रकृति और स्त्री-अनुभव तक विस्तृत करते हैं।

गुप्त की सबसे बड़ी उपलब्धि यह है कि उन्होंने खड़ी बोली को ऐसी सार्वजनिक काव्य-वाणी बनाया जिसमें सामान्य पाठक इतिहास, राष्ट्र और नैतिकता पर विचार कर सके। मिथकीय पात्रों का पुनर्पाठ और उपेक्षित स्त्री-स्वरों की प्रतिष्ठा उनके सांस्कृतिक पुनर्जागरण को मानवीय गहराई देती है। साथ ही उनका अतीत-बोध कई बार आदर्शीकरण, उनका कथन उपदेशात्मकता और उनका स्त्री-विमर्श त्याग-मर्यादा की सीमा ग्रहण कर लेता है। भारतीय समाज की बहुधार्मिक और जातिगत विविधता भी उनके सांस्कृतिक 'हम' में पूरी स्पष्टता से उपस्थित नहीं। इन सीमाओं को स्वीकारना उनके योगदान को कम करना नहीं, उसे ऐतिहासिक यथार्थ में समझना है।

आज गुप्त की सार्थकता किसी तैयार राष्ट्रवादी नारे में नहीं, उस नैतिक आग्रह में है जो प्रेम को आत्मालोचन से, अधिकार को न्याय से और परम्परा को मानवीय उत्तरदायित्व से जोड़ता है। उनकी कविता बताती है कि राष्ट्र की मजबूती विरोधी के प्रति घृणा से नहीं, अपने नागरिकों की गरिमा, शिक्षा, श्रम, समानता और सह-अस्तित्व से आती है। सांस्कृतिक पुनर्जागरण भी तभी जीवित रहता है जब वह अतीत की रक्षा के साथ वर्तमान के मौन और बहिष्कृत जीवन को आवाज दे। इस दृष्टि से गुप्त का काव्य आधुनिक भारत की पूर्ण व्याख्या नहीं, पर उसकी लोकतांत्रिक और नैतिक कल्पना के लिए एक महत्त्वपूर्ण आरम्भ-बिंदु अवश्य है।

संदर्भ सूची

1. शुक्ल, रामचन्द्र, हिंदी साहित्य का इतिहास, संशोधित एवं प्रवर्धित संस्करण, काशी-नागरीप्रचारिणी सभा, संवत् 1999, पृ. 613
2. गुप्त, मैथिलीशरण, भारत-भारती, साहित्य-सदन, चिरगाँव (झाँसी), दशम संस्करण, 1944, पृ. 153
3. वर्मा, आर. पी., 'मैथिलीशरण गुप्त के काव्य 'भारत-भारती' में राष्ट्रवाद', International Journal of Scientific & Innovative Research Studies, खंड 2, अंक 3, मार्च 2014, पृ. 47–50
4. गुप्त, मैथिलीशरण, स्वदेश-संगीत, साहित्य-सदन, चिरगाँव (झाँसी), 1925, पृ. 1
5. पार्वती, 'मैथिलीशरण गुप्त के काव्य में राष्ट्रीय चेतना', शोध मंथन, खंड 11, अंक 3, जुलाई–सितम्बर 2020, पृ. 272–278
6. गुप्त, मैथिलीशरण, जयद्रथ-वध, साहित्य-सदन, चिरगाँव (झाँसी), 1998, पृ. 1
7. गुप्त, मैथिलीशरण, साकेत, साकेत प्रकाशन, चिरगाँव (झाँसी), प्रथम साकेत संस्करण, 1980, पृ. 146
8. गुप्त, मैथिलीशरण, पंचवटी, साहित्य-सदन, चिरगाँव (झाँसी), पचासवाँ संस्करण, संवत् 2021, पृ. 1
9. गुप्त, मैथिलीशरण, यशोधरा, साहित्य-सदन, चिरगाँव (झाँसी), तृतीयावृत्ति, प्रकाशन-वर्ष अंकित नहीं, पृ. 21
10. यादव, गरिमा, 'मैथिलीशरण गुप्त जी के भारतीय संस्कृति के आदर्शों में नारी चित्रण की साहित्यिक समीक्षा', IOSR Journal of Humanities and Social Science, खंड 30, अंक 1, शृंखला 7, जनवरी 2025, पृ. 71